International Journal of Hindi Research
www.hindijournal.com
ISSN: 2455-2232
Received: 12-10-2024, Accepted: 11-11-2024, Published: 26-11-2024
Volume 10, Issue 4, 2024, Page No. 41-43

भारतेंदुयुगीन साहित्य में सुधारवाद

डॉ० अनिल कुमार
एसोसियेट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, मोतीलाल नेहरू कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, भारत

सारांश
हिन्दी साहित्य के इतिहास में भारतेंदुयुग नवजागरण काल के रूप में जाना जाता है। साथ ही युग में उपजे वैचारिक संक्रमण और हलचलों से भरे अंतर्विरोधों को भी रेखांकित किया जाता है। इस सब के बीच इस शोध पत्र में उन परिप्रेक्ष्यों पर विशेष बल दिया गया है जो तत्कालीन जीवन–मूल्य, राजनीति, संस्कृति, धर्म और ज्ञान मीमांसा संबंधी परिवर्तनकामी आग्रह से बद्ध है। उक्त आग्रह को सुधारवाद की अवधारणा के संदर्भ में स्पष्ट करने की कोशिश की गई है। जिससे की उस युग को वृहद् आलोक में देखा जा सके।

मूल शब्दः नवजागरण, पुनर्जागरण, सुधारवाद, भारतेंदुग, हिन्दी–प्रदेश, साम्राज्यवाद, अवधारणा, आंदोलन, भारतीयता, जातीय, साहित्य, तदीय समाज, राष्ट्र–नायक

सुधारवाद की धारणा यथास्थिति और रूढ़िवाद के विरुद्ध एक परिवर्तनकामी अवधारणा है। जिसकी दिशा बहुमुखी और बहुआयामी हो सकती है। यह आमूल भी हो सकता है आंशिक भी। पूर्णतः भी हो सकता है सांकेतिक भी। यह देश–काल सापेक्ष होता है। भारत में आधुनिक काल का आरंभिक दौर जिस नवजागरण के रूप में जाना जाता है उसके मूल में सुधारवादी धारणा को नज़रअंदाज़ नहीं किया जा सकता। हिन्दी में नवजागरण की शुरूआत भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से होती है। यह भारत के विभिन्न जातीय नवजागरण का ही एक अंग था। विभिन्न जातीय संस्कृतियों के जागरण मिलकर ही अखिल भारतीय नवजागरण का स्वरूप ग्रहण करता है। साहित्य अकादमी द्वारा प्रकाशित 'वीरेश लिंगम' (दूसरा संस्करण 1983) में उल्लेख है कि 'विद्यार्थी जीवन में वीरेश केशवचन्द्र सेन के भाषण पढ़कर अंधविश्वासों और ज्योतिष आदि के प्रभावों से मुक्त हो गए थे तथा 1868 में 'प्रार्थना समाज' की स्थापना की थी।''[1] कहा जा सकता है कि ''ये विखंडित आन्दोलन न थे, वरन जातीय अस्मिता के साथ–साथ भारतीय राष्ट्रीयता के सुधारवादी बोध से संबद्ध थे।''[2] जातीय चेतना एवं अंतर्जातीय प्रभाव – यह भारतीय नवजागरण की सामान्य भावभूमि है जो भारत के आधुनिक संस्कृति की मूल जनतांत्रिक स्वरूप का द्योतक है। हिन्दी साहित्य के विकास में बंगला नवजागरण एवं मराठी नवजागरण का प्रत्यक्ष प्रभाव था। आधुनिक हिन्दी कविता की पृष्ठभूमि का इस उदार सांस्कृतिक एवं सुधारवादी बोध से गहरा संबंध है।

विविध जातीय संस्कृतियों के प्रभाव से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी नवजागरण में सुधारवाद की धारणा जहाँ एक तरफ अपने समाज की आंतरिक संरचना पर आधारित थी वहीं दूसरी तरफ वह ब्रिटिश शासन के साम्राज्यवादी गतिविधियों पर भी। भारत की जिस दुर्दशा पर भारतेन्दु मिलकर रोने का आह्वान करते हैं, वह 'धन' के 'विदेश' चले जाने से संबंधित है। और यह काम कोई भारतीय नहीं बल्कि ब्रिटिश राज कर रहा था। 'प्रबोधिनी' कविता में वे स्पष्ट संकेत करते हैं –

गयो राज धन तेज रोष बल ज्ञान नसाई।
बुद्धि वीरता श्री उछाह सूरता बिलाई।।[3]

राज जाने से धन गया, धन के जाने से बल, ज्ञान, बुद्धि, समृद्धि, तेज, उत्साह सब विलुप्त हो गए। इसे पुनः प्राप्त करने का उपाय है, 'स्वत्व' ग्रहण करना। यह 'स्वत्व' राजनीति के द्वारा ही संभव हैः

राजनीति समझै सकल पाबहिं तत्व विचार।
पहिचानैं निज धरम कौ जानै, शिष्टाचार।।[4]

इसकी समझ जिसके पास है वही आधुनिक मनुष्य है। मध्यकालीन 'धर्म' तत्व को 'राजनीति' ने विस्थापित कर दिया है। आधुनिकता का सार–तत्व राजनीति है। आधुनिक मनुष्य एवं समाज के दुख–दर्द को इसी के द्वारा मिटाया जा सकता है। विदेश जाने वाले धन को वापस लौटाना और अपना स्वत्व ग्रहण करना इसी के बलबूते संभव है।
इस प्रकार, सामंत विरोधी चेतना और साम्राज्य विरोधी भावना, दोनों राजनीतिक व सुधारवादी विचार हैं। दोनों मिलकर नवजागरण को राष्ट्रीय बनाते हैं। इतना ही नहीं, हिन्दी कविता, इसी विचार से यह विवेक भी अर्जित करती है कि ''भाषा का प्रश्न देश, समाज और जनता के जीवन से स्वायत्त नहीं है।''[5]
इस सुधारवादी चेतना का ही प्रभाव है कि इस युग में जीवन की समस्याएं कविता का विषय बन गई। ''भारतेन्दु को नायिका भेद, नख–शिखवर्णन, अलंकार आदि कम आकृष्ट करते हैं। वे देश की दशा पर द्रवित होते हैं इसलिए उनके साहित्य में नई विषय–वस्तु जुड़ गई है। यह नई विषय–वस्तु देश–प्रेम है जो देश के यथार्थ बोध पर आधारित है। इसमें भाषा–सुधार, समाज–सुधार, पाखंड–उद्घाटन बहुत कुछ है लेकिन इसकी मुख्य विषय–वस्तु आर्थिक है। वे आर्थिक विषमता का वर्णन–चित्रण जिस स्वर से करते हैं वह सिपाही–विद्रोह के नेताओं के स्वर से बहुत मिलता–जुलता है।''[6] आधुनिक हिन्दी कविता का विकास स्वाधीनता आन्दोलन के समानांतर ही हुआ है।
1857 का गदर राजनीतिक दृष्टि से भले ही असफल रहा, परन्तु उसने भारतीय जनमानस में एकता का भावनात्मक संचार अवश्य किया। फलतः भारतीयों को अंग्रेजी–शासन अधिक पीड़ा–दायक लगने लगा। यही कारण है कि ''गुजराती के नर्मद और दौलतराम, मराठी के चिपलुणकर, बंगला के बंकिमचन्द्र और हिन्दी के भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की रचनाओं में अंग्रेजी–राज के विरोध के साथ स्वातंत्र्य–चेतना की सुगबुगाहट मिलती है।''7 इस युग के लेखकों ने अंग्रेजों की शोषक नीतियों का विरोध करते हुए देश की तत्कालीन दुर्दशा और हीनावस्था पर क्षोभ प्रकट किया –

रोअहु सब मिलिके आवहु भारत भाई।
हा! हा! भारत दुर्दशा न देखि जाई।।[8]

देश की वास्तविकता का एहसास इन पंक्तियों में कराया गया है। कवि पहले स्थिति को प्रकट किया है। वास्तविकता को समझकर ही उसके कारणों की पड़ताल की जा सकती है। देश के यथार्थ स्थिति की पहचान अचानक आए किसी परिवर्तन का परिणाम नहीं है। इसके पीछे चल रहे सामाजिक–सांस्कृतिक जागरण की प्रेरणा कार्यरत है। इस युग के कवि गदर से एवं उसके बाद के तमाम धार्मिक–सांस्कृतिक सुधार आंदोलन से प्रत्यक्ष जूड़े थे। जिस 'नवीन धारा' की ओर आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अपने इतिहास–पुस्तक में इशारा किया है वह यही है।
भारतेन्दुयुगीन कवियों में देश की दुरवस्था का यथार्थ–चित्रण मिलता है। भारत के अन्य जातीय प्रदेशों के नवजागरण से हिन्दी नवजागरण में एक बड़ा फर्क है और वह है कि ''बंगाल और महाराष्ट्र आदि में नवजागरण का नेतृत्व समाज–सुधारकों, राष्ट्र–नायकों ने किया, जबकि हिन्दी नवजागरण का नेतृत्व मुख्यतः लेखकों के ही हाथ रहा।''[10] यह अकारण नहीं है कि इस युग के कवि धर्म जैसे संवेदनशील मुद्दों को नहीं छूते। वे व्यापक स्तर पर एकता का आह्वान करते हैं। जहाँ एक ओर समाज–सुधारक एवं राष्ट्र–नायक 'आर्य समाज', 'ब्रह्म समाज' की स्थापना करते हैं तो वहीं भारतेन्दु 'तदीय समाज' की स्थापना करते हैं। इस अर्थ में बहुत हद तक ये कवि अपने समकालीन राजनेताओं से अधिक प्रगतिशील हैं। अपने बलिया वाले भाषण में भारतेन्दु कहते हैं कि ''इस महामंत्र का जाप करो, जो हिन्दुस्तान में रहे, चाहे किसी रंग, किसी जाति का क्यों न हो, वह हिन्दू है। हिन्दू की सहायता करो। बंगाली, मराठी, पंजाबी, मद्रासी, वैदिक, जैन, ब्रह्मो, मुसलमान सब एक–एक का हाथ पकड़ो।''[11]

भारतेन्दु मतमतांतरों के प्रति घृणा प्रकट करते हैं। जात–पाँत एवं धार्मिक बंटवारे को वे एक षड्यंत्र मानते हैंः

रचि बहु विधि के वाक्य पुरानन माँति घुसाए।
शैव शाक्त वैष्णव अनेक मत प्रकटि चलाए।।
जाति अनेकन करी नीच अरू ऊँच बनायो।
खान–पान संबंध सबन सों बरजि छुड़ायो।।[12]

समाज में व्याप्त भेदभाव को ब्राह्मणों का पाखंड घोषित करते हुए भारतेन्दु एकता के सूत्र की तलाश करते हैं। उन्हें यह विश्वास है कि ये सारे भेद–भाव ऊपरी हैं। इन्हें समाज में विभेद पैदा करने के लिए ही बनाया गया है। देश की दुर्दशा का सबसे बड़ा नहीं, तो कम–से–कम महत्वपूर्ण कारण तो यह है ही। इतने से ही कवि संतुष्ट नहीं होता है बल्कि और स्पष्ट शब्दों में घोषित करता हैः–

बैर फूट ही सों भयो सब भारत को नास।
तबहुँ न छाँड़त याहि सब, बँधे मोह के पास।।[13]

जाति–धर्म आधारित पहचान को वे 'मोह का पाश' मानते हैं। ये वे पहचान हैं जो समाज में 'बैर' एवं 'फूट' के मूल हैं। भारत के नाश के मूल में यही बैर भाव एवं दुश्मनी है। यहाँ वे 'छद्म' पहचानों के बजाय एक ही पहचान 'भारतीयता' को घोषित करते हैं। जो सुधारवाद का सशक्त उदाहरण है।

23 मार्च 1874 की 'कवि–वचन–सुधा' में भारतेन्दु ने स्वदेशी वस्तुओं के व्यवहार का प्रतिज्ञा–पत्र प्रकाशित किया था। डॉ0 रामविलास शर्मा ने अपनी पुस्तक 'भारतेन्दु युग और हिन्दी भाषा की विकास परंपरा' में ठीक ही लिखा है कि ''यह प्रतिज्ञा–पत्र भारतीय स्वाधीनता के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखा जाने योग्य है।''14 यही स्वदेशी बीसवीं शताब्दी में स्वाधीनता आंदोलन का एक बड़ा ही कारगर हथियार बना। कहा जा सकता है कि भारतेन्दु–युग के कवि स्वाधीनता आंदोलन की भविष्य की रणनीति तैयार कर रहे थेः

वस्तु विदेशी की भरमार,
से भारत की दशा विचार।
सका स्वदेशी व्रत नहिं धार,
बार–बार उसको धिक्कार।।[15]

'प्रेमघन' देश की दुर्दशा के लिए जिम्मेवार विदेशी वस्तुओं की भरमार को तो मानते ही हैं, उसके साथ ही जो स्वदेशी व्रत को धारण नहीं करता उसे भी मानते हैं। इतना ही नहीं, प्रतापनारायण मिश्र तो इससे भी आगे बढ़कर 'स्वतंत्रता' को जीवन का सबसे बड़ा मूल्य घोषित करते हैंः सब तजि गहो स्वतंत्रता, नहिं चुप लातै खाव।[16]
स्वतंत्रता के लिए सब कुछ त्यागने की सलाह देते हैं। इससे बड़ा एवं मूल्यवान वस्तु कुछ नहीं और इसे प्राप्त करने का सहज उपाय भी वे बतलाते हैंः

प्रीति परस्पर रखहु मीत,
जइहैं सब दुख सहजहिं बीत।
नहिं एकता सरसि कल कोय,
एक–एक मिलि ग्यारह होय।।[17]

देश की दुर्दशा, जनता का कष्ट सहज ही नष्ट हो सकता है, यदि परस्पर मित्रता के बंधन में सभी बंधे हों। यहाँ स्पष्ट घोषणा है कि एकता से बड़ा बल, ताकत कोई नहीं है। सुधारवादी दृष्टि का ही परिणाम था कि भारतेन्दु–युग के सभी कवियों ने देश–दशा का वर्णन, एकता की भावना का प्रसार करने का अपना धयेय बना लिया था। वे लोगों को अपने अधिकारों एवं कर्त्तव्यों के प्रति जागरुक करते हैं। रीतिकालीन उदासीनता यहाँ एकदम सजगता में बदल जाती है। ऐसा नहीं है कि इन कवियों ने श्रृंगार–भक्ति की रचना नहीं की है, लेकिन उनकी भक्ति भी 'भारतनाथ' के प्रति है। देश–दशा के लिए ही वे ईश्वर को भी याद करते हैं, व्यक्तिगत–मोक्ष के लिए नहीं।

भारतीय राष्ट्रीयता की शुरूआत पुनरूत्थान के रूप में हुआ था जो धर्म केंद्रित सुधारवाद का नतीजा था। भारत में राजनीतिक संस्थाओं के संघटन तथा कार्यान्वयन के पूर्व धार्मिक तथा सांस्कृतिक संस्थानों की स्थापना हुई और उन्होंने पुनर्जागरण का आंदोलन प्रारंभ किया। राजनीतिक आंदोलनों का स्वरूप ग्रहण करने से पहले इसने अनेक सामाजिक एवं धार्मिक सुधारों का सूत्रपात कर दिया था। ये धर्म–सुधार आंदोलन चरमपंथी नहीं थे। इसे एक उदार सांस्कृतिक राष्ट्रीयता की संज्ञा दी जा सकती है। 'प्रेमधन' को धार्मिक खींचतान खटकती हैः

बीती जो उसको भूलो संभालो अब तो आगे से।
मिलो परस्पर सब भाई–बन्धु एक प्रेम के धागे से।।[18]

भारतेन्दु मुगल–साम्राज्य और अंग्रेजी–राज के अंतर को स्पष्ट लक्षित करते हुए कहते हैं कि ''मुसलमानों के काल में शत–सहस्र बड़े–बड़े दोष थे, किन्तु दो गुण थे, प्रथम तो यह कि उन सबों ने अपना घर यहीं बनाया, इससे यहां की लक्ष्मी यहीं रहती थी, दूसरे बीच–बीच में जब कोई आग्रही मुसलमान बादशाह उत्पन्न होते थे तो हिन्दूओं का रक्त भी उष्ण हो जाता था।''[19] आजकल के 'कुछ' बुद्धिजीवियों की तरह भारतेन्दु मुगल काल को गुलामी

का काल नहीं मानते। अपितु तटस्थ होकर मुस्लिम कट्टरपंथियों के आग्रह को भी रेखांकित करते हैं। इतनी ही स्पष्ट समझ की जरूरत आज भी है। भारतेन्दु युगीन राष्ट्रीयता वस्तुतः सुधारवादी है। राजनीतिक क्षेत्र में उदारवादी राष्ट्रीय चेतना उस काल में व्याप्त थी। अतः उस युग कांग्रेसी नेताओं को भी अंग्रेजों की कर्तव्य–निष्ठा, न्यायप्रियता तथा सच्चाई में पूरा विश्वास था। कंपनी शासन की समाप्ति ने देश के मध्यवर्ग में बहुत–सी शांति और सुख–भोग की अभिलाषाएं उत्पन्न कर दी थी। इस युग के कवियों की 'कथित' राजभक्ति को इसी संदर्भ में देखना चाहिएः अंगरेज राज सुख साज सजे सब भारी।

पै धन बिदेश चलि जात इहै अति ख्वारी।।
ताहु पै महँगी काल रोग विस्तारी।
दिन दिन दुनौ दुख देत ईस हा भारी।।
सबके ऊपर टिक्कस की आफत आई।
हा! हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई।।[20]

धन का विदेश चले जाना, दिन प्रति–दिन दुख का बढ़ना, और तरह–तरह के कर 'टैक्स' क्या इसके बावजूद अंग्रेज राज के सुख को पूजनीय माना जा सकता है! यह अंतर्विरोध उस युग के सभी कवियों में देखा जा सकता है। एक तरपफ वे अंग्रेजों के सुधार कार्यों से आकर्षित होते हैं तो दूसरी तरफ तरह–तरह के टैक्स से परेशान होते हैं। ऐसा लगता है कि जब वे अतीत को याद करते हैं 'सामंती प्रथा' तो उन्हें वर्तमान से कुछ संतुष्टि मिलती है परन्तु ज्योंहि अंग्रेजों के शोषण का ख्याल आता है वे पीड़ित हो जाते हैं। फिर वे मध्यवर्गीय चाटुकारिता को फटकारने लगते हैंः

कल के कल बल छलन सों छले इतै के लोग। नीति नित धन सो घटत हैं बढत है दुख सोग।। मारकीन मलमल बिना चलत कछु नहिं काम। परदेशी जुलहान कै मानहु भये गुलाम।।[21]

विज्ञान 'मशीन' की अमानवीयता को इस युग के कवियों ने परख लिया था। इन पंक्तियों में भारतीय लोगों की मानसिक गुलामी को कवि ने उकेरा है।
भारतेन्दुयुगीन कवियों ने सर्वत्रा संघर्ष और त्याग को वरन करने का संदेश दिया है। प्रारंभ में इनका असंतोष शासन कार्य में भारतीयों की अनियुक्ति एवं करों जैसे साधारण कार्यों का था। लेकिन इन साधारण मांगों की अवहेलना ने इस असंतोष को राष्ट्रीय स्वरूप प्रदान कर दिया। भारतेन्दु 'प्रेस एक्ट' और 'आर्म्स एक्ट' से असंतुष्ट होकर कहते हैंः

सबहिं भाँति नश्प–भक्त जें भारतवासी–लोक।
शस्त्र और मुद्रण विषयकरी तिरहुँ को लोक।।[22]

हर तरह से शांत एवं विश्वासी भारतीयों को इस नये कानून ने कटघरे में खड़ा कर दिया। ऐसा लगता है कि कवि पूर्व में की गई अपनी राजभक्ति का पश्चाताप कर रहा है। इस युग की कविता पर विचार करते हुए लक्ष्मीसागर 'वार्ष्णेय' ने लिखा है कि ''इस युग में दो प्रवृतियाँ मुख्य रूप से प्रचलित थीं – एक तो राष्ट्रीय और दूसरी वर्ण, धर्म एवं सांप्रदायिक विषयों से संबंध रखने वाली। पहली के संबंध में यह कहना आवश्यक है कि विशेष परिस्थिति के कारण वह बहुत कुछ हिन्दुत्व लिए हुए थी, 'हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान' की आवाज बुलंद थी और उसमें भी राजनीतिक राष्ट्रीयता के स्थान पर, आर्थिक और धार्मिक राष्ट्रीयता ही प्रमुख थी। वह मध्यवर्गीय व्यवसायी समाज की राष्ट्रीयता थी। इसी को सरकार का सामना करना पड़ा था।''[23] यहाँ 'वार्ष्णेय' ने युग के सुधारवादी आग्रह पर ध्यान नहीं दिया। खैर, इस युग की कविता लोकप्रचलित काव्य रूपों को अभिव्यक्ति का माध्यम बनाती है। भारतेन्दु खुसरो की तरह मुकरियाँ और पहेलियाँ लिखते हैं तो प्रतापनारायण मिश्र आल्हा, लावनी।
डॉ. रामविलास शर्मा ने इस युग की सुधारवाद और जनवादिता को ध्यान में रखते हुए लिखा कि – ''भारतेन्दु युग का साहित्य जनवादी इस अर्थ में है कि वह भारतीय समाज के पुराने ढाँचे से संतुष्ट न रहकर उसमें सुधार भी चाहता है। वह केवल राजनीतिक स्वाधीनता का साहित्य न होकर मनुष्य की एकता, समानता और भाईचारे का भी साहित्य है। भारतेन्दु स्वदेशी आंदोलन के ही अग्रदूत न थे, वे समाज सुधारकों में भी प्रमुख थे। स्त्री–शिक्षा, विधवा–विवाह, विदेश–यात्रा आदि के वे समर्थक थे।"[24]

संदर्भ–सूची

1. वीरेश लिंगम: साहित्य अकादमी, 1983, पृ0–143
2. कविता के सौ बरस, संपादक: लीलाधर माण्डलोई, शिल्पायन संस्करण, 2021, पृ0–226
3. भारतेन्दु समग्र, संपादक हेमंत शर्मा, हिन्दी प्रचारक संस्थान, संस्करण–1989, पृ0–211
4. वही, पृ0–229
5. कविता के सौ बरस, संपादक: लीलाधर मण्डलोई, शिल्पायन संस्करण, 2021, पृ0–227
6. हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, विश्वनाथ त्रिपाठी, NCERT, संस्करण– 1996, पृ0–71
7. कविता के सौ बरस, संपादक: लीलाधर माण्डलोई, शिल्पायन संस्करण, 2021, पृ0–270
8. भारतेन्दु ग्रंथावली, दूसरा–भाग, नमन प्रकाशन, संस्करण–2016, पृ0–469
9. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, संस्करण–1994, पृ0–401
10. नवजागरण और प्रतापनारायण मिश्र, भगवती प्रसाद शर्मा, राधा पब्लिकेशंस, संव – 1994, पृ0–59
11. भारतेन्दु समग्र, 1884 के बलिया वाला भाषण से
12. भारत–दुर्दशा, भारतेन्दु–नाटकावली, इंडियन प्रेस, प्रयाग, पृ0–604
13. वही
14. डॉ. रामविलास शर्मा, भारतेन्दु युग हिन्दी भाषा की विकास परंपरा, राजकमल प्रकाशन, संव–1998, पृ0–3
15. प्रेमधन सर्वस्व, प्रथम भाग, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, संस्करण– संवत् 2007, पृ0–136
16. नवजागरण और प्रतापनारायण मिश्र, भगवती प्रसाद शर्मा, राधा पब्लिकेशंस, संव – 1994, पृ0–62
17. वही
18. प्रेमघन सर्वस्व, प्रथम भाग, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, संस्करण– संवत् 2007, पृ0–375–76
19. भारतेन्दु समग्र, संपादक हेमंत शर्मा, हिन्दी प्रचारक संस्थान, संस्करण–1989, पृ0–732
20. भारतेन्दु समग्र, संपादक हेमंत शर्मा, हिन्दी प्रचारक संस्थान, संस्करण–1989, पृ0–211
21. भारतेन्दु ग्रंथावली, प्रथम–भाग, नमन प्रकाशन, संस्करण–2016, पृ0–735–736
22. भारतेन्दु ग्रंथावली, दूसरा–भाग, नमन प्रकाशन, संस्करण–2016, पृ0–715
23. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, साहित्य भवन प्राव लिव, संस्करण–1965, पृ0–64–65
24. डॉ. रामविलास शर्मा, भारतेन्दु युग हिन्दी भाषा की विकास परंपरा, राजकमल प्रकाशन, संव–1998, पृव–107